

**THE ECONOMIC TIMES**

*Date: 17-01-17*

## Ending railways budget should not curtain railway accounts



The discontinuance of the annual rail budget, while welcome, must not mean drawing a curtain over railway accounts and performance indicators. The rail budget for the next fiscal would be incorporated in the general budget, and a separate discussion on railway expenditure is on the agenda for parliamentary scrutiny and oversight. Yet, such steps are hardly adequate or sufficient.

With annual revenues of almost Rs 2 lakh crore, and with a huge investment plan underway, the railways do need to disclose monthly and quarterly data on physical and financial performance. The way ahead is to coagulate capital expenditure in a modular fashion that is very much linked to

rising potential for fare and non-fare revenues. Indeed, a complete change of track is warranted. To begin with, the railways do need to adopt commercial accounting norms to properly arrive at figures for assets and liabilities. In parallel, what is required is a time-bound move to corporatise the railways and run it in a more businesslike manner with customer and commuter focus, revamped rolling stock and up-to-date signalling for safety and dependability. Also speedily required is timetabled freight trains.

It is true that the railways has social obligations, and its ticketing website mentions the fact that passenger fares cover only about 57 per cent of costs. However, doing away with the rail budget and ending the dividend payout on the capital-at-charge of Rs 2.27 lakh crore would save the railways about Rs 9,700 crore. The railways' joint ventures with state governments also need to be leveraged for social funding. Shamefully, some 40 per cent of the railways freight earnings come from hauling mostly unbeneficiated coal. Hence the pressing need to replace babu culture with entrepreneurial culture in the Railways.

---

## बिज़नेस स्टैंडर्ड

*Date: 17-01-17*

### भारत और चीन के रिश्ते में कड़वाहट की धुंध

*भारत और चीन के रिश्ते पहले ही बेहतर नहीं हैं। ऐसे में दोनों देशों को चाहिए कि वे भविष्य में एक दूसरे को भड़काने से बचें। इस बारे में विस्तार से अपनी राय रख रहे हैं श्याम सरन*

भारत और चीन के रिश्ते तीक्ष्ण विवाद की ओर बढ़ते नजर आ रहे हैं क्योंकि दोनों देश एक दूसरे के कदम पर प्रतिक्रिया दे रहे हैं। हम एक ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया के साक्षी हैं जो दोनों देशों को एक ऐसी स्थिति में पहुंचा सकती है जो शायद दोनों में से किसी के हित में नहीं होगी। चीन ने बार-बार पाकिस्तानी आतंकी संगठन जैश-ए-मोहम्मद के प्रमुख मसूद अजहर को संयुक्त राष्ट्र में आतंकवादी बताए जाने को

तकनीकी आधार पर रोका है। भारत ने चीन पर आरोप लगाया है कि वह दोहरा रुख अपना रहा है और अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ होने की अपनी ही बात से पीछे हट रहा है। दोनों देश लगातार कहते रहे हैं कि वे आतंकवाद के खिलाफ हैं। इसलिए चीन के रुख पर भारत का विरोध कतई अजीब नहीं है।

चीन ने भारत को परमाणु आपूर्तिकर्ता देशों के समूह में शामिल किए जाने का भी विरोध किया है। उसका कहना है कि ऐसा करने से अंतरराष्ट्रीय परमाणु अप्रसार की व्यवस्था को धक्का पहुंचेगा। लेकिन निजी तौर पर चीन यह कह चुका है कि अगर भारत और पाकिस्तान को एक साथ एनएसजी का सदस्य बनाया जाता है तो इसमें कोई समस्या नहीं है। हालांकि उपरोक्त दोनों ही मामलों में पाकिस्तान ही साझा कारक है। भारत ने अपनी प्रतिक्रिया में चीन पर दबाव बनाया जिसके चलते उसने पाकिस्तान के समर्थन के बारे में अपनी स्थिति को सार्वजनिक किया। यह बात भारत की चीन के बारे में शत्रुतापूर्ण धारणा को और सही साबित करती है। ऐसे कदम उठाने के बाद चीन के लिए भी अपने कदम पीछे खींचना मुश्किल है। भारत ने हाल ही में अग्नि-4 और अग्नि -5 अंतरमहाद्वीपीय बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र (आईसीबीएम) का परीक्षण किया है। भारतीय मीडिया ने इसे ऐसे पेश किया जैसे यह चीन को ध्यान में रखकर बनाई गई है। हालांकि आधिकारिक वक्तव्य में हमेशा की तरह यही कहा गया कि यह क्षमता किसी खास देश को ध्यान में रखकर नहीं विकसित की गई है। चीन ने अपनी अतीत की नीति के उलट इन परीक्षणों पर पहली बार आधिकारिक प्रतिक्रिया दी। उसने कहा कि यह संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के 1172वें प्रस्ताव का उल्लंघन है जो 6 जून 2008 को पारित किया गया था।

इस प्रस्ताव को भारत और पाकिस्तान द्वारा एक के बाद एक परमाणु परीक्षण किए जाने के बाद पारित किया गया था। उसमें इन परीक्षणों की आलोचना करते हुए कहा गया था कि वे तत्काल परमाणु हथियार विकसित करना बंद करें और परमाणु हथियार ले जाने में सक्षम बैलिस्टिक मिसाइल का निर्माण भी रोक दें। चीन के आधिकारिक प्रवक्ता ने कहा कि अग्नि का परीक्षण उपरोक्त समझौते का उल्लंघन है। उसने कहा कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि भारत परमाणु हथियार क्षमता संपन्न बैलिस्टिक मिसाइल विकसित कर सकता है या नहीं। यह बात ध्यान दिए जाने लायक है कि चीन ने कभी भारत को परमाणु हथियार संपन्न देश नहीं माना और विभिन्न चर्चाओं में इस संबंध में दबाव बनने पर उसने इस समझौते का सहारा लिया।

चीन के मीडिया ने तो और आगे बढ़कर धमकी ही दे डाली कि अगर पश्चिमी देश भारत को परमाणु हथियार वाला मुल्क मानते हैं और भारत व पाकिस्तान के बीच की परमाणु होड़ की अनदेखी करते हैं तो चीन भी उक्त नियमों का अनिवार्य तौर पर पालन नहीं करता रहेगा। इस बात में यह धमकी निहित है कि चीन पाकिस्तान की परमाणु और प्रक्षेपास्त्र क्षमता का समर्थन करेगा ताकि भारत को नियंत्रित किया जा सके। चीन यह वैसे भी करता आया है लेकिन इस बार उसने यह सार्वजनिक रूप से कहा है और धमकाने वाले अंदाज में भी। अतीत में वह पाकिस्तान के समर्थन की बात नहीं मानता था और दावा करता था कि वह शांतिपूर्ण परमाणु सहयोग में ही शामिल है। भारत की बात करें तो यहां भी तिब्बत मुद्दे को दोबारा छेड़ने की मंशा साफ नजर आती है। नोबेल विजेताओं के सम्मेलन में दलाई लामा को राष्ट्रपति भवन आमंत्रित किया जाना पिछली नीति से स्पष्ट रूप से अलग है। उस नीति के तहत सरकार तिब्बत के नेता की सक्रियता से खुद को नहीं जोड़ती थी। करमापा भी सार्वजनिक रूप से अधिक सक्रिय नजर आ रहे हैं। यह भी नीतिगत बदलाव का ही उदाहरण है। भारत अपने स्तर पर चीन पर दबाव बनाने का प्रयास कर रहा है।

अगर तिब्बत के धार्मिक नेताओं के प्रति भारत का यही भाव बना रहा तो चीन प्रतिक्रिया स्वरूप भारत को दंडित करने का प्रयास करेगा। भारत भी उसे असहज करने के लिए तिब्बत का इस्तेमाल कर सकता है लेकिन यह चीन को किसी तरह की धमकी के बजाय चिढ़ाने वाली हरकत होगी। तिब्बत को लेकर चीन अत्यंत संवेदनशील है और सन 1950 के दशक में भारत और चीन के रिश्ते खराब होने में तिब्बत की अहम भूमिका थी। सन 1962 में हुए युद्ध में भी यह एक कारक था। ऐसे में भारत को थोड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। इसके उलट दोनों देशों

को एक दूसरे के साथ संपर्क बढ़ाने की भी आवश्यकता है ताकि वे तिब्बत मसले का प्रबंधन करें और उसे एक बार फिर दोनों मुल्कों के बीच तनाव की वजह न बनने दें। भारत को कोशिश यह करनी चाहिए कि वह दलाई लामा और चीन के बीच किसी तरह के समझौते की राह बना सके, बजाय कि उनके मतभेदों का लाभ उठाने के। दोनों देशों को अपने कदम पीछे खींचकर द्विपक्षीय रिश्तों पर ध्यान देना चाहिए ताकि मौजूदा तनाव दूर हो सके। चीन को भी चाहिए कि वह भारत को केवल अमेरिका या पाकिस्तान के साथ रिश्तों से जोड़कर नहीं देखे। वह भारत को अमेरिका के साथ बढ़ती प्रतिद्वंद्विता के चश्मे से देखना बंद कर दे। ठीक वैसे ही जैसे अतीत में वह भारत को सोवियत संघ के सहयोगी के रूप में देखता था।

अक्सर यह जिज्ञासा किया जाता है कि चीन का जीडीपी भारत की तुलना में पांच गुना है और इसलिए भारत को अपना कद छोटा होने का अहसास रखना चाहिए। चीन शायद यह भूल गया है कि खुद उसका जीडीपी अमेरिका की तुलना में नगण्य है। क्या वह अमेरिका के सामने खुद को छोटा मानता है? नहीं तो फिर भारत ऐसा क्यों करेगा? भारत की बात करें तो उम्मीद की जानी चाहिए कि हम चीन के भड़काऊ कदमों पर प्रतिक्रिया देना बंद करेंगे। हमें ऐसी परिस्थितियां नहीं बनने देनी चाहिए जिन पर किसी का नियंत्रण नहीं हो। क्योंकि उसके परिणाम दोनों देशों को भुगतने होंगे। हमें जन भावनाओं को नेतृत्व के निर्णयों पर हावी नहीं होने देना चाहिए। भारत और चीन के रिश्ते खराब हैं और निकट भविष्य में वे ऐसे ही रहेंगे। ऐसे में यह बात दोनों देशों के हित में होगी कि वे इन्हें और खराब न होने दें।

*(लेखक पूर्व विदेश सचिव और आरआईएस के मौजूदा अध्यक्ष और सीपीआर के वरिष्ठ फेलो हैं। लेख में प्रस्तुत विचार निजी हैं।)*



## दैनिक भास्कर

Date: 17-01-17

### भाषा दमन का नहीं, अवसरों का माध्यम



सरकारी पत्र-व्यवहार और सोशल मीडिया में सरकार द्वारा हिंदी का इस्तेमाल करने के मुद्दे से हमारे देश के दो आवश्यक सच उजागर हुए हैं। एक तो यह कि कट्टर हिंदी समर्थक चाहे जो कहें, भारत में हमारे पास एक 'राष्ट्रीय भाषा' नहीं है बल्कि कई भाषाएं हैं। दूसरा यह कि इन अतिउत्साहियों में ऐसी लड़ाई भड़काने की दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति है, जो वे हार जाएंगे- वह भी ऐसे वक्त जब वे चुपचाप युद्ध जीत रहे थे।

हिंदी हमारी लगभग 50 फीसदी आबादी की मातृभाषा (हालांकि, इस आंकड़ें से उन लोगों को अलग नहीं किया गया है जो गढ़वाली या मागधी या 47 प्रकार की अन्य बोलियां बोलते हैं, जिन्हें हिंदी के साथ जोड़ दिया जाता है) है। उत्तर भारत के

अधिकांश हिस्से में बढ़ती आबादी पर काबू पाने की स्पष्ट नाकामी के कारण हिंदी बोलने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। किंतु हिंदी हम शेष लोगों की मातृभाषा नहीं है। ब्रिटिश शासकों द्वारा थोपी गई अजनबी भाषा के इस्तेमाल पर जब हिंदी बोलने वाले भावनात्मक रोष व्यक्त

करते हैं और हिंदी के इस्तेमाल की मांग करते हैं, क्योंकि यह 'भारत की आत्मा' की आवाज बोलती है या जब वे घोषणा करते हैं कि 'हिंदी हमारी मां है और अंग्रेजी अजनबी भाषा है,' तो वे फिर दो बातें भूल जाते हैं।

एक, कोई तमिल अथवा बंगाली हिंदी को अपनी आत्मा की आवाज नहीं मानेगा। दूसरी बात, अंग्रेजी विरोधी नफरत को सामने मौजूद मुद्दे की दलील में लाना पूरी तरह अप्रासंगिक है। मुद्दा सरल-सा है : सारे भारतीयों का सरकार से साबका पड़ता है। हमें सरकारी सेवाओं की जरूरत है, सरकारी सूचना चाहिए, उसकी मदद चाहिए। हमें यह आसानी से समझने की जरूरत होती है कि सरकार हमसे क्या कह रही है या हमसे क्या चाहती है। जब सरकार यह सब हमारी मातृभाषा में करती है तो इसे समझना हमारे लिए आसान हो जाता है। परंतु जब वह ऐसा किसी और की मातृभाषा में करती है, जिससे हम अपने पड़ोसी की तुलना में कम वाकिफ हैं तो रोष के कारण भाषा न समझ पाना और भी प्रखर हो जाता है। सरकार को 'शुक्ला' से ऐसी भाषा में क्यों बोलना चाहिए, जो उसके लिए तो बहुत आसान हो लेकिन, 'सुब्रह्मण्यम' के लिए न हो?

बेशक, आदर्श रूप में तो सरकार का हर दस्तावेज, टैक्स का फॉर्म हो या ट्वीट, हर भारतीय की भाषा में होना चाहिए। चूंकि व्यावहारिक रूप से यह संभव नहीं है -क्योंकि तब हमें सबकुछ 23 प्रारूपों में करना होगा- तो हमने दो आधिकारिक भाषाएं चुन लीं अंग्रेजी और हिंदी। राज्य सरकारें इसकी पूर्ति आधिकारिक सामग्री को अपने राज्यों की भाषा में उपलब्ध कराकर कर देती हैं। इससे कमोबेश हर व्यक्ति खुश है। हिंदी को विशेषाधिकार देने की सरकार की नई अनिवार्यता कार्य-कुशलता के खिलाफ है। दिल्ली में केरल के किसी अफसर को फाइल पर हिंदी में लिखी वे टिप्पणियां पढ़ने-लिखने को कहना, जो ओडिशा के किसी बड़े अफसर को भेजी जानी हैं, निरर्थक है। दोनों अफसर ऐसी भाषा का इस्तेमाल नहीं कर रहे होंगे, जिसमें उन्हें महारत हासिल है। दोनों को उत्तरप्रदेश के किसी कनिष्ठ अधिकारी की जटिल दलील हजम करने को बाध्य करना, दोनों के साथ अन्याय होगा। हो सकता है दोनों अच्छी अंग्रेजी न लिखते हों लेकिन, यह वह भाषा है जिसमें दोनों समान हैं और इससे काम हो जाता है। भाषा वाहन है, वह स्थान नहीं, जहां पहुंचना है। सरकार में इसका मतलब है कि यह साधन है, साध्य नहीं। हिंदी वाले इस बात को समझ नहीं पाते, क्योंकि हिंदी को बढ़ावा देना अपने आप में उनके लिए उद्देश्य है।

परिणाम वही होता है, जो संसद में अंग्रेजी में भाषण होते समय बीच-बीच में 'हिंदी बोलो' से टोकने वाले मुलायम सिंह यादव के रक्षा मंत्री बनने पर हुआ। उन्होंने पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु को हिंदी में पत्र लिखा। कुछ वक्त के बाद उन्हें बंगाली में जवाब मिलता है। शुक्र है कि इस पत्र-व्यवहार में राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़ा तत्काल महत्व का मुद्दा नहीं था। हाल ही में नए करेंसी नोट पर देवनागरी अंकों के विवादास्पद इस्तेमाल से गैर-हिंदी भाषी लोगों में काफी रोष पैदा हुआ। आलोचकों ने दलील दी है कि यह कदम आधिकारिक भाषा अधिनियम 1963, 1960 के राष्ट्रपति के आदेश जैसी संवैधानिक नज़ीरों की वैधता पर सवाल उठाता है। खेद है कि सरकार ताजे घाव पर नमक डाल रही है और फिर खुले आम हिंदी के प्रभुत्व को बढ़ावा देना जारी रखती है। जैसा मैंने पहले भी कहा है- विडंबना यह है कि कट्टर हिंदीवादियों को यह अहसास होना चाहिए कि वे युद्ध जीत रहे हैं। आज देश में हिंदी आधी सदी पहले की तुलना में कहीं अधिक प्रचलन में है। यह मुलायम सिंह की टोका-टाकी या हिंदी को बढ़ावा देने वाली संसदीय समिति के परिश्रमी प्रयासों का नतीजा नहीं है।

सीधी-सी बात है कि बॉलीवुड की वजह से यह हुआ है, जिसने बोलचाल की सरल हिंदी को हर भारतीय घर में पहुंचाया है। दक्षिण भारतीय और पूर्वोत्तर के निवासी समान रूप से हिंदी से परिचय बढ़ा रहे हैं, क्योंकि यही वह भाषा है, जिसमें उनका मनोरंजन होता है। समय के साथ सिर्फ इसी वजह से हिंदी वास्तव में राष्ट्रीय भाषा हो जाएगी। लेकिन ऐसा सिर्फ इसलिए होगा, क्योंकि देशवासी स्वेच्छा से स्वीकारेंगे। इसलिए नहीं कि दिल्ली से कोई हिंदी का कट्टर समर्थक भाषा को थोपकर उनके गले उतार देगा। सच तो यह है कि शब्द भंडार, लिंग संबंधी नियम और मुहावरे सहजता से हर किसी भाषा में नहीं आते। लिंगभेद का इस्तेमाल न करने वाली मलयालम जैसी भाषाओं के बोलने वाले समझ नहीं पाते कि महिला स्त्री लिंगी क्यों है। यह तो फिर भी ठीक है, टेबल का स्त्री लिंग देखकर वे चकरा जाते हैं। यदि आप हिंदी के साथ ही पले-बढ़े हैं

तो आपको यह समझना आसान है, 'देश की हालत अच्छी है', 'क्यों देश का हालत बुरा है' से सही है। लेकिन हम बाकी के लोगों के लिए राष्ट्र की स्थिति को स्त्री लिंग से जोड़ने में कोई तुक नज़र नहीं आता। फिर भी यदि हम पर्याप्त बॉलीवुड फिल्में देख रहे हैं तो किसी दिन हमें समझ में आ जाएगा, बस हमसे यह मत कहिए कि हमें सीखना ही होगा वरना..। भाषा दमन की नहीं, अवसरों के लिए उपकरण होनी चाहिए। वक्त है कि जो हठधर्मिताएं सोई पड़ी हों, उन्हें सोया ही रहने दें तो बेहतर।

*शशि थरूर, विदेश मामलों की संसदीय समिति के चेयरमैन और पूर्व केंद्रीय मंत्री (ये लेखक के अपने विचार हैं।)*



**दैनिक जागरण**

**Date: 17-01-17**

## नाजुक दौर में अफगानिस्तान

मंगलवार 10 जनवरी का दिन काबुल के लिए खौफनाक साबित हुआ। दारुल अमन सड़क पर स्थित अफगानिस्तान के संसद के एक हिस्से में हुए आत्मघाती हमले में तमाम लोगों की जान चली गई और कई अन्य घायल हो गए। अफगानिस्तान में दफ्तर सुबह आठ बजे खुलते हैं और शाम को चार बजे बंद हो जाते हैं। इस दौरान चूंकि दफ्तरों के आसपास लोगों और वाहनों का जमावड़ा बढ़ जाता है, लिहाजा आतंकी हमला करने के लिए इसी समय को चुनते हैं, ताकि हताहतों की संख्या अधिक हो सके। अफगानिस्तान के स्वास्थ्य मंत्री ने हमले में मरने वालों की संख्या 28 और घायलों की संख्या 73 बताई है। हालांकि अफगानिस्तान के अधिकारी आम तौर पर मरने वालों के वास्तविक आंकड़ों को जानबूझकर कम बताते हैं, जबकि आतंकी प्रचार तंत्र उसे बढ़-चढ़कर बताते हैं। तालिबान की वेबसाइट वायस ऑफ जिहाद ने दावा किया है कि हमले में राष्ट्रीय सुरक्षा निदेशालय के अधिकारियों को ले जाने वाली पूरी बस तबाह हो गई। एक पुराने शाही भवन दारुल अमन के नाम पर दारुल अमन सड़क का नामकरण किया गया है।

एक समय यह इमारत अपनी भव्यता के लिए अफगानिस्तान में मशहूर थी, लेकिन आज वह जर्जर हालत में है। वह अफगानिस्तान की बर्बादी, त्रासदी और अंतहीन दुख का प्रतीक बन गई है। इससे करीब एक किलोमीटर की दूरी पर ही अफगानिस्तान की नई संसद खड़ी है। इसे भारत सरकार ने बनाया है। गत वर्ष प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने एक समारोह में इसे अफगानिस्तान को सौंपा था। आशा और उम्मीद के प्रतीक के रूप में यह आज भी बरकरार है। 10 जनवरी को अफगानिस्तान के एक दूसरे शहर कंधार में भी बम धमाका हुआ। ताज्जुब है कि आतंकियों ने एक सोफे के अंदर बम छिपाकर रख दिया था। उस धमाके में अफगानिस्तान के एक प्रांतीय गवर्नर हुमायूं अजीजी और उनके अतिथि संयुक्त अरब अमीरात के अफगानिस्तान में राजदूत घायल हो गए, जो कि एक स्कूल भवन का उद्घाटन करने आए थे।

वहीं डिप्टी गवर्नर अब्दुल अली शम्सी की मौत हो गई। संयुक्त अरब अमीरात हाल ही में कुख्यात अंडरवल्ड सरगना और आतंकवादी दाऊद इब्राहिम की संपत्ति को जब्त करने के लिए चर्चा में आया था। तालिबान की वायस ऑफ जिहाद ने भी कंधार की घटना की जिम्मेदारी ली है, लेकिन इसमें आइएसआइ और स्थानीय तालिबान का हाथ होने से इंकार नहीं किया जा सकता है। इसी दिन अफगानिस्तान के कई दूसरे स्थानों पर भी तालिबान ने हमले किए। दुर्भाग्य की बात है कि अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा अपनी विरासत के रूप में आतंकवाद से ग्रस्त अफगानिस्तान को छोड़कर जा रहे हैं। वह अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा नीति का कितना भी गुणगान कर लें, लेकिन उनकी अफगानिस्तान-पाकिस्तान नीति की यही सच्चाई है। ओबामा पाकिस्तान के सैन्य शासकों और अरब से पाकिस्तान को मिलने वाले भारी-भरकम फंड पर लगाम लगाने में सफल नहीं हुए। परिणामस्वरूप आज अफगानिस्तान आतंकवाद के भयानक संकट में फंस गया है और पूरे क्षेत्र में एक सामरिक असुरक्षा की

स्थिति पैदा हो गई है। अफगानिस्तान में हर दिन निर्दोष लोगों को जान से हाथ धोना पड़ रहा है। देशव्यापी आतंकवाद, बड़े पैमाने पर देह व्यापार, मादक पदार्थों की तस्करी, प्राकृतिक संसाधनों की लूट और अन्य दूसरे संगठित अपराधों की बाढ़ आ गई है। पाकिस्तानी सेना ने इसे और बढ़ाया है। उसने अरब प्रायद्वीप और खाड़ी के संरक्षण और सबसे बढ़कर ओबामा की देखरेख में यह सब किया है। अमेरिका द्वारा अफगानिस्तान से अपनी सेना को वापस लेने की घोषणा करने, अफगानिस्तान को मझधार में छोड़ने, अफगान वायुसेना को मजबूती प्रदान करने से इंकार करने का सबसे ज्यादा लाभ पाकिस्तानी सेना और उसके टुकड़ों पर पल रहे तालिबान को हुआ। अफगानिस्तान के पुनर्निर्माण के नाम पर सिर्फ दिखावा किया गया।

हालांकि कई सैन्य, खुफिया और विदेश नीति के विशेषज्ञों ने व्हाइट हाउस को अफगानिस्तान में बढ़ते खतरे को खत्म करने के लिए पाकिस्तान के खिलाफ राजनीतिक, वित्तीय, सैन्य कार्रवाई करने की सलाह दी थी। पूर्व राष्ट्रपति हामिद करजई ने अफगानिस्तान संकट के लिए पाकिस्तान को जिम्मेदार ठहराया था और आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई को समाप्त करने के लिए पाकिस्तान के खिलाफ कार्रवाई करने की मांग की थी, लेकिन ये सभी आग्रह व्यर्थ साबित हुए। अफगानिस्तान की स्थिति आज तेजी से बिगड़ रही है। पाकिस्तान स्थित और समर्थित आतंकी पूरे देश में लगभग हर दिन हमले कर रहे हैं। तालिबान के साथ बड़े पैमाने पर पाकिस्तानी सेना के अधिकारियों और जवानों के जुड़े होने की बात सामने आई है।

दिनों दिन अफगान सुरक्षा बलों में हताहतों की संख्या बढ़ने से उनका मनोबल टूट गया है। उनमें नई भर्तियां कम होने लगी है। इस प्रकार पूरे देश में उदासी का वातावरण है। उधर अमेरिका अफगानिस्तान में पाकिस्तान स्थित आतंकवादियों के खिलाफ सख्ती दिखा रहा है, लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि आतंकवादियों को शह देने वाली पाकिस्तान सेना और फंड मुहैया कराने वाले सऊदी अरब के प्रति उदारता दिखा रहा है। परिणामस्वरूप तालिबान की जड़ पाकिस्तान में पूरी तरह सुरक्षित है और उसके आतंकी अफगानिस्तान में पाकिस्तान और सऊदी अरब के एजेंडे को लागू करा रहे हैं। अब सारी दुनिया की निगाहें अमेरिका के नए राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के ऊपर हैं, क्योंकि उन्होंने आतंकवाद और इस्लामिक चरमपंथियों को समाप्त करने का वादा कर रखा है। हालांकि तालिबान की ओर से इसकी प्रतिक्रिया होने की भी उम्मीद है। अफगानिस्तान राष्ट्रपति के सलाहकार के रूप में मेरा अनुभव कहता है कि अफगानिस्तान में होने वाले हर प्रमुख आतंकवादी हमलों में पाकिस्तान की सेना की भूमिका होती है। रावलपिंडी अफगानिस्तान और भारत में आतंकवादी हमलों के द्वारा इस क्षेत्र में प्रभुत्व कायम करना चाहता है और स्वयं के लिए सामरिक स्थान बनाना चाहता है। 90 के दशक में कश्मीर में आतंकवाद फैलाने के लिए आइएसआइ ने आतंकवादी गुलबुद्दीन हिकमतयार को अफगानिस्तान के एक आतंकी कैंप में नियुक्त किया था। एक बार फिर उसे आइएसआइ ने अफगानिस्तान में तैनात किया है। पाकिस्तान में नए सेना प्रमुख की नियुक्ति होना, अमेरिका में नए राष्ट्रपति का चुनाव होना और अफगानिस्तान में एक के बाद एक लगातार कई आतंकी हमले होना कई संकेत देते हैं। पहला, पाकिस्तान सेना प्रमुख ने अफगानिस्तान-पाकिस्तान-भारत क्षेत्र में पहल कर दी है। दूसरा, पाकिस्तान किसी की आज्ञा नहीं मानने वाला है। तीसरा, पाकिस्तान ने क्षेत्र में प्रभुत्व कायम करने की मंशा स्पष्ट कर दी है और चौथा, उसने ट्रंप प्रशासन की परीक्षा लेना आरंभ कर दिया है। यदि ट्रंप इसके प्रति लापरवाह साबित हुए तो यह पाकिस्तान के लिए फायदमंद होगा और भारत तथा अफगानिस्तान के लिए हानिकारक। यदि पाकिस्तान के खिलाफ कठोर रुख अपनाएंगे तो हो सकता है कि आने वाले दिनों में कुछ नए समझौते देखने को मिलें। इस्लामिक आतंकवाद और चीन की विस्तारवादी नीति को देखते हुए आने वाला समय स्वयं अमेरिका सहित पूरी दुनिया के लिए चुनौतीपूर्ण साबित होने वाला है। बराक ओबामा के आठ वर्षों के दोहरे रवैये के बाद अब सबकी नजरें राष्ट्रपति ट्रंप पर टिक गई हैं। देखना है कि वह अपने वादों पर कितना खरे उतरते हैं।

**[ लेखक श्रीनिवासराम एस. सोहोनी, अफगानिस्तान के राष्ट्रपति के वरिष्ठ सलाहकार हैं और पूर्व आइएसआइ अधिकारी हैं ]**

*Date: 16-01-17*

## War minus shooting

***The Jan Lokpal Bill was accepted by the Congress government in 2013 with amendments and was renamed and passed as the Lokpal and Lokayuktas Bill.***



gimmickry.

For all its tough talk on corruption, the Modi government's actions have only weakened the anti-corruption reforms in the country. Demonetisation is the latest in the long saga of failed promises of the government, which includes putting Rs 15 lakh in every account, making the names of Swiss bank account holders public and penalising those named in the Panama papers. The government's manipulation of legal norms in the appointment of the directors of the CBI and the Enforcement Directorate, the deliberate delay in the appointment of the Lokpal, the dilution of The Whistle Blowers Protection (Amendment) Bill, 2015, show that the government's promised dedication to fighting corruption is just political

The Jan Lokpal Bill was accepted by the Congress government in 2013 with amendments and was renamed and passed as the Lokpal and Lokayuktas Bill. Three years have gone by and the BJP government is yet to appoint a Lokpal. Their excuse is a minor amendment to the Lokpal and Lokayuktas Act 2013, which would allow the leader of the largest party in the Opposition in the Lok Sabha to join the five-member selection committee, is yet to be passed. This reason is hypocritical because earlier this year, the government passed a similar amendment in a different bill, The Delhi Special Police Establishment (Amendment) Bill, 2014. There is no reason why the Lokpal and Lokayuktas Act could not have been similarly amended. Even the Supreme Court has reprimanded the Centre for delaying the appointment indefinitely and observed that the law to have the Lokpal must become functional soon.

The government has moved additional amendments that are against the spirit of the original Lokpal and Lokayuktas Act, 2013. Earlier, all public servants were required to file annual details of the assets and liabilities of their spouses and dependent children. This clause was intended to aid in the investigations of public servants, or any person on their behalf, who are in possession of a property disproportionate to their known sources of income. But the amended Lokpal Act in July 2016 removed the clause for public servants to publicise the details of their spouses and dependents.

A similar fate has befallen another anti-corruption legislation, the Whistleblower's Protection Act, 2011. The Whistleblower's Protection Act was passed by Parliament in 2014 and received the support of all major political parties. Instead of making the Act operational, the government moved an amendment bill in May 2015 which severely diluted the Act. As per the new amendments, whistleblowers are barred from revealing any documents classified under the Official Secrets Act of 1923, even if the intention is to disclose acts of corruption, abuse of power or criminal activities. These amendments exclude disclosures which "prejudicially affect the interest of the sovereignty and integrity of India, the security of the State, friendly relations with a foreign State". Left to a bureaucrat's imagination, the interpretation of these amendments is ambiguous and can be used to target honest whistleblowers. The government is clueless about the amendment bill's status. The MoS in the Prime Minister's Office said the bill had been sent to a parliamentary committee; an RTI application revealed the bill

is not pending with any parliamentary committee. The Modi government's appointments to key agencies and institutions show scant regard for well-established procedures and norms. In the case of the CBI, the tenure of the former director came to an end on December 2, 2016. The rules of appointment indicate that the government should appoint the next CBI director based on the recommendation of the selection committee, consisting of the prime minister, the leader of Opposition in the Lok Sabha and the chief justice of India.

With less than a week remaining before the retirement of the former director, the seniormost officer in contention for the director's post was shunted to the Ministry of Home Affairs as a special secretary. The seniormost officer had the requisite experience and was supervising high-profile cases. A Gujarat cadre IPS officer was appointed as interim director. The appointment was questionable because the selection committee was bypassed: The concerned officer's history indicated that he was chosen by an earlier Gujarat government to probe the Godhra train burning incident. Many allege the appointment of the interim CBI director was deliberate. The alleged aim was to postpone the meeting of the selection committee to a date after January 4, 2017; after January 4, 2017, a new CJI took over.

Similar rumours cropped up when the appointment of the director to the Enforcement Directorate came up. The post had become vacant in 2015 and for an entire year, the BJP government could not ensure a proper handover. Instead, an officer was given additional in-charge of the ED. He received three extensions in one year before being named the full-term director. The silence of the BJP government over the Vyapam admission and recruitment scam, which involved politicians, senior officials and businessmen in Madhya Pradesh, is also telling. Corruption must be eradicated. Clear laws, strong enforcement and an empowered citizenry are necessary for that. An independent judiciary, autonomous investigative agencies, a vibrant civil society and an impartial executive are also essential. But that's not the way India seems to be headed.

***Gaurav Gogoi The writer is a Congress MP***

---

***Date: 16-01-17***

## **Crack the cocoon**

***Our school system does not prepare students for university. The final year of 'Plus Two' should be a preparation for college, not an examination.***



Our universities are witnessing a great deal of turmoil. Having straddled the world of both schools and universities, as it were, it seems to me that there are a few basic issues involved here. The first is the almost total disconnect in our school system between the curriculum and the reality of this country. School curriculum, for the most part, is totally focused on board examinations. Of course we teach our children all there is to know about physics, math, history and what-have-you. But do we teach them about the bitter caste divide that plagues our country, about the spectre of famine that stalks large parts of our land, about gender sensitivity, about the possibility of atheism as a choice, about the rights and emotional needs of the

LGBT community?

Equally important, do we teach them to ask questions, or do we teach them only to passively receive our wisdom? An oft repeated complaint from teachers to parents is: "Your child is extremely disruptive in the



classroom. He is forever asking questions!” We do not, because apart from our obsession with board examinations, most of our teachers are woefully ill-equipped to deal with these issues.

Most teachers hide behind the fig-leaf of “where is the time for all this?”, when the truth is that a well-informed and imaginative teacher can easily weave these lessons into the delivery of the regular curriculum. Schools also do not deal with these issues because few schools dare “rock the boat”. What if the parents complain? Of course, some of the “better” schools have debating societies which “debate” these issues. But, as the name suggests, they remain at the level of a “debate”. Once the trophy is won (or lost) the issue is forgotten. And, in any case, how many students do these debates touch? A handful, who, rather boringly, appear for every debate on account of being the school’s “best” debaters, whilst the conscripted audience yawns through the proceedings.

If the teachers are ill-prepared, the principals are even worse off. This is because today, most school managements want “managers”, not “leaders”. I was helping a few schools recently in their search for a principal. In the hundreds of CVs that I saw, there was a monotonous similarity. All of them had the statutory MA and BEd. Some even had a PhD. They all claimed considerable “experience”. Of what? Doing the same routine things over and over again. Not one had dared to step off the trodden path and explore uncharted territory, professionally or in their personal lives. What kind of leadership will these principals provide? What kind of dreamers and visionaries will they inspire? And there is all this talk about India being a nation of entrepreneurs and “start-ups”. What does all this have to do with what is happening in our universities today? Lots. From the cocooned world of school, the adolescent finds herself/himself, almost overnight, in the wonderfully unfettered world of university. Here, she/he is swept up in a turmoil of ideas, influences and ideologies. For someone who’s been discouraged from asking questions and forming an opinion, this transition can be a painful one, riddled with minefields. The young mind can too easily be caught up by peer pressure, rhetoric, macho imagery and powerful demagoguery.

I disagree strongly with those who say that university students should not be involved in “politics”. As budding leaders, they have every right to be not only informed, but also involved. But this involvement must come with a deep understanding of the issues at stake — an understanding that is possible only if we “catch ’em young” and train them to think for themselves. It is also a well-established realisation amongst educationists across the globe that the new world order demands “skills” more than “content” — skills such as problem-solving, creative thinking, team-work, leadership, empathy. In our country, the child is forced to dive into an ocean of content almost from nursery. By class 12, the volume of content is frightening, leaving little time for anything else. Add the pressure of preparing for a multitude of entrance examinations, and any thought of “skills” goes out of the window.

One possible way forward, but one which will require considerable political will and imagination, would be to scrap the current class 10 board examination (which is not taken very seriously anyway) and have the final board examination in class 11 instead. The “Plus Two” system was introduced with the hope that students who were not really academically inclined would opt for the vocational courses on offer and not bother about formal university. Given the Indian penchant for a “degree” and our aversion for anything remotely resembling manual labour, the system never really took off. Class 12 should then be treated as a “college preparation year”, the curriculum for which could be drawn up in conjunction with universities. This curriculum, broadly speaking, would try and develop all the skills a good university requires of its students — critical thinking, analytical ability, research, reference. In the process, students would develop the maturity to be independent thinkers and take informed decisions. University life would become that much easier and meaningful. Of course, a lot of the fine print would need to be worked out — but surely we can begin by just debating this issue.

***The writer is director, student development & welfare, O.P. Jindal Global University***

---

## नए प्रयोगों का वक्त

ऐसे वक्त में, जब हमारे शहर यातायात के भारी दबाव का शिकार हैं, यह खबर सुकून भरी हो सकती है। फ्रांस के एक स्टार्टअप ने ट्रैफिक जाम का अच्छा तोड़ निकाला है। यह तोड़ उन शहरों के लिए खासा कारगर हो सकता है, जिनके बीच से नदियां निकलती हैं या जो नदी या नदियों से घिरे हुए हैं। यह इस दृष्टि से भी बेहतर है कि इसका लाभ लेने के लिए छोटी नदियां संरक्षित कर उनका कारगर इस्तेमाल किया जा सकता है। इस स्टार्टअप ने एक ऐसी 'वाटर टैक्सी' ईजाद की है, जो बैटरी चालित होगी, पानी के करंट से उसकी सतह से कुछ इंच ऊपर दौड़ेगी और पूरी तरह तरह से पर्यावरण के अनुकूल होगी। इसमें छह लोग बैठ सकेंगे। उम्मीद है कि सी-बबल्स नाम का यह प्रयोग अगले कुछ महीनों में आकार लेकर पेरिस व लंदन जैसे शहरों को राहत देता दिखाई देगा। दूर से पेरिस के बारे में जितनी भी सुंदर धारणा बने, सच यही है कि पेरिस ट्रैफिक जाम के मामले में फ्रांस के सबसे खराब शहरों में शुमार है। जिस तरह हम अपने देश की आदर्श स्थितियों में 42 घंटे काम करते हैं, वहां एक कार चालक के औसतन 45 घंटे प्रति सप्ताह जाम की भेंट चढ़ जाते हैं। लंदन की कहानी इससे भी खराब है। इसे यूरोप में जाम का चैंपियन कहा जाता है। यहां तो एक चालक के औसतन 101 घंटे या सप्ताह के तीन से चार दिन जाम से जूझते हुए बीत जाते हैं। यह सब तब है, जब ये शहर ट्रैफिक जाम के मुक्ति के तमाम साधन आजमा चुके हैं। ऐसे में, नई खोजें ही कारगर समाधान दे सकती हैं।

सवाल है कि हमारे देश में ऐसे इनोवेशन सामने क्यों नहीं आ रहे? इस सवाल को उलटकर देखें, तो जो इनोवेशन सामने आ रहे हैं, हम उन्हें भी स्वीकार नहीं कर रहे। भारत जैसे देश में, जहां 'स्थायी जाम और तात्कालिक समाधान' की रीति पर ज्यादातर काम होता रहा हो, वहां कुछ नया सोचने की जरूरत है। सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट ने हर वर्ष बढ़ते वाहनों पर अंकुश लगाने, सार्वजनिक ट्रांसपोर्ट के इस्तेमाल पर इंसेंटिव देने के साथ यह भी सुझाव दिया था कि टाउनशिप ऐसी डेवलप की जाएं, जिनमें हर तरह की सुविधाएं हों और लोगों को बेवजह हर चीज के लिए बाहर न भागना पड़े। दिल्ली में ऑड-ईवन फॉर्मूला भी ऐसी ही एक ईजाद था। दुर्भाग्य से इनमें से ज्यादातर सुझाव लागू करने के बारे में सोचा भी न गया और जिन्हें लागू करने के अच्छे नतीजे आए, उन्हें भी नामालूम वजहों से स्थायी नहीं किया जा सका।

अब सी-बबल्स को ही लें। इनके संचालन में न तो पर्यावरण को कोई चुनौती मिल रही है, न जलीय जीवन को। यह सोच इसलिए भी कारगर दिखती है कि हमारे शहर ट्रैफिक के लिहाज से दिन-ब-दिन ज्यादा से ज्यादा तंग होते जा रहे हैं। सड़कों और जमीन पर तो जगह बची नहीं या बचेगी नहीं। ऐसे में, जलमार्गों का दोहन नई राह दिखा सकता है। ऐसे प्रयोग वाराणसी, इलाहाबाद, कानपुर, पटना, भागलपुर, लखनऊ जैसे घनी अबादी वाले शहरों में भी कारगर हो सकते हैं, जहां सड़कें सिमटती गई हैं और जलमार्ग की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। लखनऊ, जहां रिवर फ्रंट बनाने के लिए गोमती में पानी लाने का प्रयोग कारगर हो सकता है, वहीं गोमती में वाटर टैक्सी का प्रयोग भी नए आयाम गढ़ सकता है। ऐसे प्रयोगों के लिए स्थानीय स्तर पर औद्योगिक घरानों को जोड़ने की पहल भी कारगर हो सकती है। दरअसल, अब अपने आस-पास के माहौल और हमारे शहरों की संरचना के अनुरूप ऐसी ही नई योजनाएं तैयार करने का वक्त है। हमारे नए टेक्नोक्रेट, युवा विज्ञानी इसमें मददगार हो सकते हैं, बशर्ते उनके प्रयोगों को ठंडे बस्ते में न डालकर, बड़ा स्पेस दिया जाए।

**Date: 16-01-17**

## अब तक नहीं मिला रोहित वेमुला के सवाल का जवाब

रोहित वेमुला की मौत को आज एक साल पूरा हो रहा है। सवाल अब भी वही है कि रोहित वेमुला ने ऐसा क्यों किया? जवाब अभी मिला नहीं और न जाने कब तक इंतजार करना पड़ेगा? हैदराबाद यूनिवर्सिटी में 16 जनवरी 2015 को वेमुला ने आत्महत्या करते समय एक लंबा नोट छोड़ा था और तमाम प्रश्न किए थे। बाबा साहब अंबेडकर की तस्वीर लिए वेमुला का चित्र तेजी से घर-घर पहुंचने लगा। उस चित्र ने एक सवाल का जवाब तो दे दिया कि पढ़ा-लिखा दलित अंबेडकरवादी ही बनता है। वेमुला पहले वामपंथी था, बाद में अंबेडकरवादी बना था। आज जब उसकी बरसी है, तो भाजपा को फिर से घेरने की शुरुआत होगी।

लेकिन संसद में नियम-193 के तहत इस संदर्भ में बहस हो चुकी है। बहस की शुरुआत में मैंने विपक्ष से अनुरोध किया था कि दलित हत्या, उत्पीड़न, बलात्कार व गरीबी को आंकड़ों की भेंट न चढ़ाया जाए। कभी-कभी हम इतने अबोध बन जाते हैं कि कुछ दशकों के इतिहास को जैसे जानते ही नहीं। सदियों से जाति-व्यवस्था के तहत अन्याय होता आ रहा है और अब भी जारी है। इसलिए सत्ता पक्ष को हत्या का कारण मान लेना प्रश्न का जवाब लेने की बजाय उसे उलझाना ही होगा। उस विश्वविद्यालय के प्रांगण में आत्महत्या का यह नौवां मामला है और ज्यादातर उस समय हुए हैं, जब केंद्र में भारतीय जनता पार्टी की सरकार नहीं थी। अभी तक ईमानदारी से कारण ढूंढने पर चर्चा संसद में नहीं हुई है और निकट भविष्य में भी होने की संभावना नहीं के समान है। इसके लिए किसी पार्टी विशेष को जिम्मेदार ठहराना समस्या की जड़ में जाने से ध्यान बंटाने जैसा ही होगा। जब हम स्वतंत्र हुए, तो जनतांत्रिक शासन प्रणाली अपनाई। जनतंत्र का जन्म यूरोप में हुआ और वहीं पर यह जवान भी हुआ। वहां की समस्याएं भिन्न हैं। उन्होंने अपने अनुसार राज्य के चरित्र को कल्याणकारी बनाया अर्थात् रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य इत्यादि। उनके यहां सामाजिक भेदभाव नहीं था, इसलिए वहां के राज्य लोगों के हित में काम कर सके। हमारे यहां जाति और लिंग भेद जड़ में है, जिसे संबोधित करने की जिम्मेदारी राज्य को लेनी चाहिए थी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। न जाने किसके ऊपर यह जिम्मेदारी सौंपी गई, यह महत्वपूर्ण है। अब भी कोई जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं है। यह चुनौती सरकारें भी स्वीकार कर सकती हैं, पर ऐसा असंभव ही लगता है। चुनावों में मत पड़ने तक जाति की भूमिका अहम रहती है और शासन-प्रशासन इससे ज्यादा ऊपर उठकर किया नहीं जाता। जरूरी है कि सरकार नहीं, तो शिक्षा-व्यवस्था या सिविल सोसाइटी इस चुनौती को स्वीकार करे। फिलहाल किसी में यह क्षमता नहीं दिखती। ज्यादातर अगड़ों के घर-घर की यही कहानी है कि आरक्षण वाले अयोग्य होते हैं और इसकी वजह से उनके बच्चे नौकरी पाने से वंचित हो रहे हैं। यह पूर्वाग्रह शिक्षण संस्थाओं में भी काम करता रहता है। मेडिकल और इंजीनियरिंग, यहां तक कि संघ लोक सेवा आयोग में भी दलित-आदिवासी व पिछड़े छात्रों के साथ भेदभाव देखा जाता है। जो लोग सोचते हैं कि आरक्षण से हानि होती है, उन्हें यह जानना होगा कि यह देश को जोड़ने व उसकी उन्नति के लिए सबसे ताकतवर कड़ी है। एक समय था, जब बाहरी आक्रमणकारी आसानी से भारत पर विजय प्राप्त कर लेते थे, तो क्या हम समझें कि हमारे बाजुओं में ताकत नहीं थी या दिमाग उनसे कम था? हमलावर आए या जाएं, नाई को तो बाल काटना था, लोहार को लोहारी करनी थी, धोबी का कपड़ा, पासी को सब्जी इत्यादि का काम ही करना था। इस तरह लोग जातियों में बंटे रहे और सोच वहीं तक सीमित रही। आजादी के बाद ये बंधन कमजोर हुए हैं। आरक्षण से थोड़ा-बहुत सबको शासन-प्रशासन में भागीदारी मिली और भारतीय होने की सोच पैदा होने लगी। जो लोग सोचते हैं कि इससे उत्पादन क्षमता व दक्षता पर प्रतिकूल असर पड़ेगा, उन्हें अपने अंदर झांकना होगा। इतनी बड़ी आबादी को भागीदारी नहीं दी जाएगी, तो क्रय शक्ति कहां से आएगी, जिसका सीधा संबंध उत्पादन व विकास से है? वेमुला ने जिस प्रश्न का उत्तर जानना चाहा था, वह इसी सामाजिक-व्यवस्था में उलझा हुआ है। देखते हैं कि यह कब तक सुलझता है?

**उदित राज, लोकसभा सदस्य (ये लेखक के अपने विचार हैं)**

**Date: 16-01-17**

## उभरता हुआ अफ्रीका

अफ्रीका महादेश समृद्धि की तरफ तेज कदमों से बढ़ रहा है, इस बात को कहने के लिए हाल के वर्षों में एक मुहावरे 'अफ्रीका राइजिंग' का खूब इस्तेमाल होता रहा है। इसका आशय उन आलोचनाओं का जवाब देना है, जो यह बताते रहे हैं कि अफ्रीका की समस्याएं इतनी बड़ी हैं कि वह कभी उनसे पार नहीं पा सकता। दरअसल, एक ऐसे महादेश के बारे में, जिसमें 54 देश समाहित हैं और जिनमें करीब एक अरब बीस करोड़ से अधिक लोग रहते हैं, ये दोनों ही दृष्टिकोण अति-सरलीकृत हैं। यकीनन, चुनौतियां बहुत ज्यादा और बहुत साफ हैं। उदाहरण के लिए, कांगो और जांबिया में वोटरों ने चुनावों में सत्तारूढ़ शासक को अपदस्थ कर दिया, मगर दोनों ही मुल्कों के राष्ट्राध्यक्षों ने पद छोड़ने से इनकार कर दिया। इसके उलट घाना में मतदाताओं के फैसले के आगे नत-मस्तक होते हुए वहां के राष्ट्रपति ने शांतिपूर्ण तरीके से कुरसी खाली कर दी। तेल और खनिज पदार्थों के प्रचुर भंडार वाली अफ्रीकी अर्थव्यवस्थाएं अब भी अपने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से कोसों दूर हैं, जबकि उन्हें अपने औद्योगिक आधार को विस्तार देने की आवश्यकता है। दुनिया की 16 फीसदी आबादी वाले अफ्रीका की वैश्विक मैन्युफैक्चरिंग में हिस्सेदारी महज दो प्रतिशत है। लेकिन 2017 में बड़ी संभावनाएं दिख रही हैं। अफ्रीकी देशों ने इस साल अक्तूबर तक अपने महादेश को मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने का लक्ष्य तय किया है। अगर यह काम संपन्न हो गया, तो इससे पूरे अफ्रीका में वस्तुओं, सेवाओं और लोगों की आवाजाही काफी तेजी से बढ़ेगी। इसका शुरुआती फायदा कृषि क्षेत्र को हो सकता है, जो विभिन्न इलाकों में बड़ी छलांगें लगाता दिख रहा है। ये इलाके कृषि कार्य में नई तकनीक का इस्तेमाल कर रहे हैं, जैसे टेलीफोन के जरिये फसलों के बारे में जानकारी साझा करना, परिष्कृत बीजों का इस्तेमाल, सौर ऊर्जा संचालित सिंचाई-व्यवस्था खड़ी करना, कटाई की नई तकनीक अपनाना व द्रोण व सैटेलाइट तस्वीरों के जरिये फसलों की निगरानी करना। व्यापार, कृषि और वन्य-जीवों के संरक्षण की दिशा में बढ़ते कदम अक्सर सुर्खियां नहीं बनते। लेकिन अफ्रीकी अफसाने में उनकी भी अहम भूमिका है।

*द क्रिश्चियन साइंस मॉनिटर, अमेरिका*

---